तार से झूलता एक बल्ब

उन दिनो मै छह वर्ष का था। हम पॉच भाई बहन थे। हर सप्ताह मॉ धईया गेट से होकर गुजरने वाले जुलाहों से मोल भाव करके दो चार अंडे खरीद लिया करती थी, जिसके सुबह के नाश्ते पर आमलेट बनते थे। ये आमलेट भी तभी बनते थे जब हमे नाश्ते पर डबलरोटी मिलती थी। बाबूजी चालीस वर्ष के होने को आए। मॉ के शब्दों मे उन्हे चालीसा लग चला था, इसीलिए उन्हे अकेले एक अंडे का आमलेट मिलता था। हम चुल्हे के पास बैठे तवे पर अपनी टकटकी लगाए अपने आधे आमलेट का इन्तजार करते थे। मॉ एक अंडे का आमलेट तवे पर फैला फैला कर बड़ा करने के प्रयास मे लगी रहती थी। उनके लपेटने के बाद वो बड़ी सफाई से उनके दो भाग करती थी। उसके किए भाग बिल्कुल बराबर होते थे फिर भी हम दॉयें वाला बॉये वाला करके झगड़ पड़ते थे। इस तरह का नाश्ता हमे सप्ताह मे एक बार ही मिलता था। ये अंडे उन दिनो बीस से लेकर तीस पैसे तक के आते थे।
मॉ के तमाम विरोधों व बाबूजी की चूप्पियों के बावजूद भी मैने मुर्गियों के पालने का निर्णय कर लिया। समय के साथ अब मेरे पास दो सौ से ऊपर मुर्गे व मुर्गियॉ थीं। अब यही मेरा संसार था, यही मेरी व्यस्तता थी, यही मेरा मनोरंजन था। इन्ही मे से एक मुर्गी मुझे अपने जान से भी ज्यादे प्यारी थी। उसका मेरे द्वारा दिया एक नाम भी था ‘अमेरिकन मुर्गी’। उसे मै अकेला एक दरबे मे रखता था। उसके खाने पीने का ख्याल मै खुद ही रखता था। उसके खाने व अंडे देने के डिब्बे भी मैने खुद ही बनाए थे। घंटो बैठकर मैने उन्हे हरे रंग से रंगा था। उसके लिए मै लालबाबू से उनका बूढा पर तेज तर्रार लाल रंग का विलायती मुर्गा भी खरीद लाया, जो वो किसी भी कीमत पर बेचने को तैयार न थे। घर मे अंडों की बौछार होने लग पड़ी। आए दिनो मेहमानो की थालियों मे मुर्गमुसल्लम, एगकरी, रोगनजोश और पता नही क्या क्या परोसा जाने लगा। मेहमानो की न सिर्फ संख्या बढी, वरन उनके आगमन और वापसी भी अनियमित होती चली गई। समय के साथ मेरे अपने भाई बहन तो अंडो को फूटी नज़रों से भी न देखते थे।
फिर अचानक एक दिन मेरे मुर्गीखाने मे धईया का एक चोर घुस आया। जब मेरी नींद खूली तो मै मुर्गीखाने की ओर दौड़ा। धईया गेट का चौकीदार दुक्खू उस चोर को जकड़े बैठा था और बाबूजी उस चोर की पीठ पर घूस्से बरसाए जा रहे थे। मॉ भी वहीं बाबूजी को जकड़े लथपथ खड़ी थीं। कभी वो चोर को डांटती थी फिर बाबूजी से गिड़गिड़ातीं थीः जाने दीजिये। न जाने कितने दिनो का भूखा होगा।
दूसरे ही दिन बाबूजी ने मुर्गीखाने के ठीक सामने वाले महुए पेंड़ की एक उॅची सी डाल से एक लम्बी तार से लटकता बिजली के एक बल्ब का इन्तजाम करवा दिया। इन्डियन स्कूल ऑफ माइन्स के अहाते के जब दूसरे बल्ब जलते थे तो हमारे महुआ पेंड़ से लटकता बल्ब भी जल पड़ता था। उसकी सारी रोशनी मेरे मुर्गीखाने पर पड़ती थी और थोड़ी सी रोशनी हमारे बड़े से आंगन मे भी आती थी। गर्मी के दिनो मे हम अपने ऑगन मे ही सोते थे। सोने से पहले अपने बिस्तर मे पड़ा मै घंटो महुए की एक उॅची डाल से लटके लम्बे तार से झूलता ये बल्ब निहारा करता था जो हल्की हवा के झोंको से भी घंटों डोलता रहता था।
मै चालीस वर्ष का हो गया। आज भी मेरे पढ़ने लिखने वाले टेबुल के ऊपर छत की एक हूक से एक तार से लटकता बल्ब है। बर्लिन मे ढंढ की बजह से मुझे खिड़कियॉ बन्द रखनी पड़ती हैं फिर भी मै अपने हॉथों से बल्ब को मारकर हिलाता डुलाता रहता हूॅ और मिनटों उसे हिलते डुलते देखते रहता हूॅ। मेरा बचपन अनायास वापस लौट आता है।

प्रमोद कुमार सिंह